सुश्री कौमुदी बलदोटा का शोधपत्र

जैन श्रावकाचार में पन्द्रह कर्मादान : एक समीक्षा

इस पर कुछ विचार

मुनि कल्याणकीर्तिविजय

जैन शासन या जैन परम्परा में अहिंसा का सबसे ज्यादा महत्त्व है। जैनों के सब व्रत-पच्चक्खाण-नियम आदि का एक ही उद्देश्य है - अहिंसा-हिंसा से विरति ।

हिंसा दो प्रकार की है - स्वरूप हिंसा, अनुबन्ध हिंसा ।

स्वरूप हिंसा याने दिखने में हिंसा लगे पर परम्परा से हिंसा न हो।

अनुबन्ध हिंसा याने दिखने में शायद हिंसा न हो पर परम्परा से वहां हिंसा ही हिंसा हो ।

जैन शास्त्रकारों ने सर्वत्र इस अनुबन्ध हिंसा से ही विरत होने का उपदेश दिया है । शास्त्रों को सुनकर-समझकर-आत्मसात् कर, उन पर चिन्तन-मनन-अनुप्रेक्षादि करने से क्रमशः चित्त की परिणति शुद्ध होती जाती है । जैसे जैसे चित्त शुद्ध होता है वैसे वैसे व्यक्ति का-व्यक्तित्व का परिवर्तन होता है; पाप छूटने लगते हैं, दोष कम होते हैं, क्षमा-दयादि गुणों का विकास होता है और व्यक्ति हिंसा-अनुबन्ध हिंसा को समझकर उसका त्याग करता हुआ - अहिंसक बनता हुआ क्रमशः सर्वथा अहिंसक बन जाता है ।

इसलिए शास्त्रकारों ने जहां-जहां जिस किसी भी क्रिया में हिंसादि दोष देखें उन सब को त्यागने का - उन क्रियाओं से विरत होने का उपदेश दिया । और इस कार्य में उन्होंनें जहां से - कोई भी धर्म-दर्शन से - जो कुछ अच्छा व उचित लगा वह सब स्वीकारा और उनका आधार लेकर जैन शास्त्रों में भी उपदेश दिया ।

अतः ऐसा कहीं देखा जाए तो उस पर अन्यान्य दर्शन-परम्परा का प्रभाव है और इसलिए वह ग्राह्य नहीं - इत्यादि कहना उचित नहीं है । प्रभाव अवश्य है पर वह अनुचित वस्तुओं का नहीं है । और अच्छी बात

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जहां से मिले वहां से उसका ग्रहण करना चाहिए । उसे निज जीवन में व्यापृत करना चाहिए । शास्त्रकारों ने यही किया है ।

यदि गौरपूर्वक दर्शनों का व शास्त्रों का अध्ययन किया जाए तो स्पष्टतया दिखता है कि प्रायः सभी परम्पराओं की असर एक-दूसरें पे है। हमारी जैन परम्परा का मुख्य उद्देश्य-ध्येय अहिंसा है । वह जहां से भी सिद्ध हो हमें उसका स्वीकार करना ही चाहिए ।

पन्द्रह कर्मादान भी हिंसास्वरूप ही है । उनसे बचना-उनका त्याग करना अहिंसा है । और हमारा लक्ष्य तो अहिंसा ही है ।

- कुलपरम्परा से जो लोग इन्हीं में से कोई व्यवसाय करते रहे हो तो इसका मतलब यह कैसे हो सकता है कि वह व्यवसाय अनिषिद्ध व मान्य है ? वह व्यवसाय अनुचित ही है । उसे त्यागना ही चाहिए।
- चीजों का इस्तेमाल करना और उनका व्यवसाय करना - इन दोनों में बहोत फर्क है । कोई व्यक्ति घी-तेल-कोयला आदि का इस्तेमाल करती है तो वह अपने लिए / घर के लिए अल्प मात्रा में कुछ लाती है । उससे हिंसा होने का सम्भव भी अल्प है । जब कि उसका व्यवसाय करने में वह मात्रा कई गुना बढ जाती है । हिंसा भी बढ जाती है ।

  तो फिर यह कहना कितना उचित होगा कि - 'दूसरों द्वारा बनाई गई चीजों का इस्तेमाल हम करते हैं तो खुद को इन चीजों के बनाने व बेचने का निषेध तर्कसंगत नहीं लगता' ? ।

  उदाहरणतया - किसी व्याधि आदि के कारण कभी किसी को कोई हिंसा जनित औषध यदि इस्तेमाल करना पडे तो क्या उस औषध का व्यवसाय भी अनिषिद्ध व मान्य हो जाएगा ?।
- भगवान महावीर कुम्हार-लोहार आदि अनेक लोगों के निवासस्थानों में ठहरते थे । और उन्होंने किसी को अपना व्यवसाय त्यागने का उपदेश नहीं दिया - यह बात अर्धसत्य है । वास्तव में भगवान के काल में जैन कुल - जन्म से जैन बहोत कम थे । भगवान सब वर्ग के लोगों को धर्म का - अहिंसा का उपदेश देते थे । उन्हें साधु धर्म / श्रावक धर्म बताते थे । फिर जो कोई व्यक्ति धर्म समझ लेता था वह अपने

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आप ही व्रत-नियम की धारणा कर आरम्भ-समारम्भ व. का त्याग कर देता था । आगमों में ऐसे उल्लेख पाए जाते हैं कि श्रावकों ने किस तरह परिग्रह-आरम्भादि का त्याग कर व्रत ग्रहण किए थे ।

भगवान के पश्चात् काल में जब जैन कुल बढने लगे तो उन्हें कर्मादानों के त्याग का उपदेश देना आसान था क्योंकि वे जन्म से ही जैन थे - अहिंसा को समझते थे । फलतः उपदेश पाकर कर्मादानों का त्याग कर देते थे । इसलिए - भगवान महावीर के जीवनकाल में पन्द्रह कर्मादानों की मान्यता प्रचलित नहीं थी - ऐसा कहना उचित नहीं है ।

- अतिचार के सन्दर्भ में यह समझना जरूरी है कि - सामायिकादि व्रत में लगे अतिचारों का प्रतिक्रमण कर देने से हम दोषों से निवृत्त हो सकते हैं - लेकिन किन दोषों से ? - जो दोष अनाभोग से - अनजाने में हुआ हो उसी दोष से निवृत्त हो सकते हैं । जो दोष जानबूझकर किया गया हो उसकी निवृत्ति नहीं हो सकती, वह तो व्रतभंग ही है । उसका तो प्रायश्चित ही लेना पडता है ।

उसी तरह कर्मादानों के विषय में भी - व्रत लिए हुए किसी व्यक्ति ने अपनी मति से उसका अर्थघटन कर कर्मादानों का सेवन कर दिया - अर्थात् अतिचार लगा दिया तो उसका शोधन प्रतिक्रमण से हो सकता है - वह भी तब - यदि वह प्रतिक्रमण करने के बाद फिर से उसी दोष का सेवन न करे ।

यदि कोई जानबूझकर कर्मादानों का सेवन करता हो तो वह उसका व्रतभंग ही है । उसकी निवृत्ति प्रतिक्रमण से नहीं हो सकती ।

दुसरी बात यह समझने योग्य है कि - जो व्यक्ति अपना पीढियों से चलता व्यवसाय न छोड पाए - वह भी यदि रोज़ रोज़ प्रतिक्रमण करता रहे तो उसके चित्त में यह परिणति बनती जाएगी कि - मैं जो कर रहा हुं वह गलत है - मुझे उसे छोडना चाहिए । ऐसे एक दिन उसका चित्त दृढ हो जाएगा तब वह अवश्य उस व्यवसाय हो छोड देगा । इसलिए - बहुत सारे कर्मादानों को अतिचार के रूप में लेने से अडचनें पैदा होती है - उन्हें सुलझाने का दिग्दर्शन श्रावकाचार से नहीं मिलता, ऐसा

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

कहना योग्य नहीं है।

- जैन समाज पर हिन्दु धर्म का प्रभाव बढता गया, और इसी कारण से जैन परम्परा ने इन व्यवसायों का निषेध किया - ऐसा जो कहा गया उसमें यह कहना है कि - प्रत्येक समाज-धर्म का प्रभाव परस्पर पडता ही है । समाज की व्यवस्था ऐसे ही चलती है । और जैसे जैन धर्म पर हिन्दु धर्म का प्रभाव पडा है वैसे हिन्दुओं पर भी जैनों का प्रभाव पडा ही है । उदा० हिन्दु धर्मियोंने सदियों से चल रही यज्ञ की हिंसा जैनों के प्रभाव से ही बन्द कर दी - छोड दी ।

  दूसरी बात यह है कि - ब्राह्मणों ने जिन्हें शूद्रों / अतिशूद्रों के व्यवसाय माने उनको जैन परम्परा ने भी निम्न दर्जे के व्यवसाय समझकर निषेध किया होगा - ऐसी मान्यता सर्वथा तर्कसंगत नहीं है । जैनों की तो एक ही भावना थी और है - जहां जहां जिस किसी भी व्यवसाय में हिंसा हो उसका त्याग करना । उस में उच्च-नीचता देखने की बात तो गौण है। अहिंसा ही जैनों का मुख्य ध्येय था, है और रहेगा । ऐसे लोग भी जैन परम्परा में थे (और है) कि जो ऐसा ही व्यवसाय करते थे जिसमें तनिक भी हिंसा न हो । उदा० पगडियाँ बाँधने का व्यवसाय या पुस्तक लेखन का व्यवसाय।

- 'जब तक व्यक्तिनिष्ठ और छोटे पैमाने पर ऐसे व्यवसाय चलते थे तब तक उनका निषेध उचित था; आज, उद्योगों के जमाने में यह निषेध योग्य नहीं है - इसलिए आधुनिक परिप्रेक्ष्य में श्रावकाचार में पन्द्रह कर्मादानों की संकल्पना का औचित्य लुप्तप्राय ही है' - ऐसा कैसे कहा जा सकता है ? छोटे पैमाने पर चलते व्यवसायों में भी जब हिंसा निहित है तब उसके उद्योगीकरण में तो कितने आरम्भ-समारम्भ व कितनी हिंसा होगी ? जिसके दिल में धर्म बसा हुआ है ऐसा जैन श्रावक तो हमेशा हिंसक व्यापार को छोडने की ही भावना रखता है । परिस्थितिवश यदि वह उसे सर्वथा त्याग न पाए तो भी उसकी भावना तो उस व्यवसाय को छोडने की ही रहती है । इसलिए आज की परिस्थिति में तो पन्द्रह कर्मादानों का त्याग बहोत ही प्रस्तुत है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

चूंकि गृहस्थ सर्वथा (नव कोटि से) तो आरम्भ का त्याग नहीं कर सकता तथापि कितनेक भंगो से तो वह अवश्य त्याग कर सकता है । शास्त्रों में व्रत-पच्चक्खाण के मूल ४९ भंग (प्रकार) १ काल के, त्रिकाल के १४७ भंग और उत्तर प्रकार तो करोडों बताए हैं । उनमें से श्रावक अपनी शक्ति व भावना के अनुसार कुछ भंगों से तो आरम्भादि का अवश्य त्याग कर सकता है । इसमें त्याग का महत्त्व तो है साथ ही भावना का भी महत्त्व है। जैसे कोई दरिद्र मनुष्य किसी कर्मादान का आचरण नहि करते हुए भी त्यागी नहीं कहा जाता, जब कि कोई समझदार मनुष्य अपनी भावना से त्याग करे तो उसका त्याग सफल होता है ।

- प्राचीनतम जैन आगमों में गृहस्थ के लिए जो षट्कर्म बताए हैं उनमें असि-मसि-कृषि व. का एवं ७२ कला में जो वाणिज्य कला का उल्लेख है वह, जितनी कम से कम हिंसा हो – इस प्रकार, अपना व परिवार का निर्वाह करने के लिए है, नहि कि आरम्भ-समारम्भ बढाने के लिए, और ना ही उनसे हिंसा की छूट मिल जाती है ।

  कलाओं व शिल्पों का शिक्षण लेना-इसका भी मतलब ऐसा नहीं होता कि उन सब का उद्योगों एवं व्यवसायों के लिए उपयोग किया जाय! वे सिर्फ जानने योग्य हैं और विपत्ति में/परिस्थितिवश उनका उपयोग हो सकता है। यूं भी सभी पदार्थ उपादेय नहीं होते पर ज्ञेय तो होते ही हैं ।

- श्रावकाचार के प्रायः सभी ग्रन्थों में जहां जहां पन्द्रह कर्मादानों की बात आती है वहां स्पष्ट कहा है कि ये १५ नाम केवल गणना के लिए है, लेकिन उपलक्षण से उनके सदृश / असदृश सब हिंसक-सावद्य-गर्हित व्यापारों को त्यागना ही चाहिए । इसलिए १५ की संख्या को लेकर या अन्योन्याश्रितता बताकर जो विसंगति दिखाई है वह अप्रस्तुत ही है ।

- सात व्यसनों के निषेध में मद्य का निषेध होते हुए भी रसवाणिज्य में मुख्यतः मद्य की गिनती की है इसमें कुछ अटपटा नहीं है । कोई श्रावक ऐसा भी सोचे कि 'मद्य पीने का निषेध है – बेचने का तो नहीं है', और वह मद्य का व्यवसाय शुरू कर दे, तो उसे भी रोकने के लिए रसवाणिज्य में उसका निषेध किया है ।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

- ईख का रस स्वीकार्य है – भगवान ने भी लिया था – इसका मतलब यह हरगिज़ नहीं कि कोई उसका उद्योगीकरण कर उसे बेचना भी शुरू कर दे । क्योंकि इसमें मुख्य बात हिंसा का – अनन्तर व परम्पर हिंसा का – त्याग करने की है । यह बात यदि लेखिका ने सोची होती तो उन्हें सब कुछ तर्कसंगत दिखाई पडता ।

  इसी तरह वाहन का उपयोग करने से वाहन को बनाने-बेचने की छूट नहीं मिल जाती ।
- भाटी कर्म में भी वाहन-पशु व. का भाडे से देने का जो निषेध है उसमें भी मुख्य कारण हिंसा ही है ।

  पैसे ब्याज पर देना- यह यदि नीति से होता है तो प्रस्तुत भी है, पर ऐसे व्यवसाय में नीति कितनी होती है – यह तो जगजाहिर है ।
- मुख्य बात तो यह है कि – ऐसे उदाहरणों को देने से ये व्यवसाय उचित/अनिषिद्ध/अहिंसक नही बन जाते । वे अनुचित / निषिद्ध व हिंसक ही हैं ।
- दिगम्बरों ने भले ही १५ कर्मादानों की नाम से गिनती न की हो पर प्रकारान्तर से तो उन्होंने आरम्भ-उद्योंगों का त्याग करने का कहकर यह बात बता ही दी है ।

निष्कर्ष :

प्रत्येक धर्म के तत्त्वाधार अंश जैसे त्रिकालाबाधित होते हैं । वैसे आचार के मूल अंश भी सार्वभौम व त्रिकालाबाधित होते हैं । भगवान पतंजलि ने योगसूत्र में कहा है कि –

अहिंसा-सत्यास्तेय-ब्रह्मचर्य-परिग्रहा यमाः ॥
जाति-देश-काल-समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥

हिंसा तीनों काल में हर जाति-देश-समाज में त्याज्य ही है और अहिंसा ही आदरणीय है – यह तथ्य सर्वथा भूलना नहीं चाहिए । उसे सामाजिक मान्यताओं से कोई वास्ता नहीं है ।

चाहे समाज बदले-जमाना बदले, हिंसा का त्याग तो करना ही होगा, यदि धर्म की भावना है । फलतः हिंसक व्यवसाय हर काल में निषिद्ध थे – हैं और रहेंगे भी । अस्तु ॥

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org